THE HINDU

Date:04-11-23

Action and authority

Governors should leave no scope for criticism that they challenge elected regimes

Editorial

That two States have approached the Supreme Court of India against the conduct of their Governors once again flags the problem of political appointees in Raj Bhavan using their authority to delay the implementation of decisions by elected regimes, if not undermine them. Tamil Nadu and Kerala have questioned the delay in the granting assent to Bills passed by the legislature. Tamil Nadu is also aggrieved that proposals related to grant of remission to some convicts, sanction for prosecution of some former Ministers and appointments to the State Public Service Commissions have not been acted upon. Governors need not rubber stamp any decision, but one can question the practice of Governors, especially in States not governed by the ruling party at the Centre, blocking decisions and Bills. For instance, some Governors appear to be hostile to the very idea of amendments to university laws if they seek to leave out Chancellors, invariably the Governors themselves, from the process of appointing vice-chancellors, or establishing new universities in which Governors are not chancellors. The idea of having Governors as ex-officio vice-chancellor of most universities is only a practice and is actualised through their founding statutes. However, Governors seem to be labouring under the misconception that they have a right to be chancellors and tend to delay assent to any Bill that clips or removes their power. It is time to have a national prohibition on Governors being burdened with the role of chancellor of any university, as recommended by the Justice M.M. Punchhi Commission on Centre-State relations.

It is unfortunate that absence of a time-frame for giving assent is used by some Governors to stymie laws passed by the legislature. One would have thought the Supreme Court's observations, arising out of the Telangana government's petition, reminding constitutional authorities that the phrase "as soon as possible" appearing in Article 200 of the Constitution contains significant "constitutional content" would have driven into them a sense of immediacy in considering Bills. What the Court meant was that it would be constitutionally impermissible for Governors to indefinitely hold on to Bills without conveying a decision. The States, too, ought to be prudent in their decision-making without leaving scope for questions on the merit of their decisions. The absence of any laid-down process to seek applications and assess the relative merits of applicants before appointing the chairperson and the members of the Tamil Nadu Public Service Commission is a case in point. The larger point that none should forget is that Governors are explicitly restricted in their functioning by the 'aid and advice' clause in the Constitution and ought not to misuse the discretionary space available to them.

दैनिक जागरण

Date:04-11-23

तारीख पर तारीख

संपादकीय

इससे संतुष्ट नहीं हुआ जा सकता कि सुप्रीम कोर्ट के मुख्य न्यायाधीश डीवाई चंद्रचूड़ ने वकीलों को इसके लिए खरी-खोटी सुनाई कि वे बार-बार सुनवाई स्थगित करने की मांग करते हैं। प्रश्न यह है कि सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीश इस तरह की मांगों को स्वीकार ही क्यों करते हैं? यदि वे मामले को टालने की अर्जियों को स्वीकार करते रहे तो फिर तारीख पर तारीख का सिलसिला कभी भी थमने वाला नहीं। भले ही मुख्य न्यायाधीश यह कह रहे हों कि वे सुप्रीम कोर्ट को तारीख पर तारीख वाली अदालत नहीं बनने दे सकते, लेकिन सच तो यह है कि कई मामलों में वह इसी तरह की अदालत नजर आती है। यह आश्चर्य का विषय है कि मुख्य न्यायाधीश यह मान रहे हैं कि सुनवाई टालने की मांगों के चलते त्वरित न्याय का उद्देश्य विफल होता है और फिर भी स्वयं उनकी ओर से दिए गए आंकड़े यह बता रहे हैं कि प्रतिदिन औसतन 150 स्थगन पत्र दिए जाते हैं। आखिर उन्हें अस्वीकार क्यों नहीं किया जाता? उन्हीं की ओर से दिए गए एक अन्य आंकड़े के अनुसार पिछले दो माह में वकीलों ने 3688 मुकदमों में स्थगन का अनुरोध किया। यह चिंतित करने वाला आंकड़ा है, लेकिन ऐसे आंकड़े पेश करने मात्र से बात बनने वाली नहीं है।

सुप्रीम कोर्ट को ऐसी कोई व्यवस्था बनानी होगी, जिससे मामलों का एक तय अवधि में निपटारा सुनिश्चित हो सके। उसे यह व्यवस्था न केवल अपने यहां बनानी होगी, बल्कि उच्च न्यायालयों को भी इसके लिए निर्देशित करना होगा कि वे यह देखें कि मामलों की सुनवाई बार-बार टलने न पाए। इसी तरह उच्च न्यायालयों को निचली अदालतों में भी तारीख पर तारीख के सिलसिले को थामने की व्यवस्था बनानी होगी। ऐसी व्यवस्था बनाना इसलिए आवश्यक है, क्योंकि निचली अदालतों से लेकर सर्वोच्च न्यायालय में लंबित मुकदमों की संख्या पांच करोड़ के आंकड़े को पार कर गई है। निःसंदेह इसका एक कारण संसाधनों का अभाव है, लेकिन यदि इस कारण का निवारण हो जाए और फिर भी तारीख पर तारीख का सिलसिला कायम रहे तो त्वरित न्याय का उद्देश्य पूरा होने वाला नहीं। सुप्रीम कोर्ट को न केवल तारीख पर तारीख के सिलसिले पर विराम लगाने के लिए आगे आना होगा, बल्कि न्यायिक तंत्र की अन्य खामियों को दूर करने के लिए भी कदम उठाने होंगे। उसे यह सुनिश्चित करना होगा कि उसके निर्देशों एवं सुझावों पर समय रहते और सही ढंग से अमल हो। इसकी अनदेखी नहीं की जा सकती कि हाल में एनसीएलएटी यानी राष्ट्रीय कंपनी कानून अपीलीय न्यायाधिकरण ने एक ऐसे मामले में भी अपना फैसला सुना दिया, जिस पर सुप्रीम कोर्ट ने यथास्थिति बनाए रखने का आदेश दिया था। यह कोई अच्छी स्थिति नहीं। यह ठीक है कि न्यायिक तंत्र की खामियों को लेकर सुप्रीम कोर्ट जब-तब चिंता जताता रहता है, लेकिन बात तब बनेगी, जब इन खामियों को दूर किया जाएगा।

Date:04-11-23

विश्व शांति के लिए खतरा बना कतर

दिव्य कुमार सोती, (लेखक काउंसिल आफ स्ट्रैटेजिक अफेयर्स से संबद्ध सामरिक विश्लेषक हैं)

कतर की एक निजी कंपनी में कार्यरत भारतीय नौसेना के आठ सेवानिवृत्त अधिकारियों को मृत्युदंड की सजा सुनाई गई है। इनमें से दो कैप्टन और छह कमांडर स्तर के अधिकारी रहे हैं। उन्हें कतर की खुफिया एजेंसियों द्वारा अज्ञात कारणों से हिरासत में रखा गया। उन पर आरोपों के विषय में भी कोई सही जानकारी भारत सरकार या उनके स्वजनों को नहीं दी गई। मीडिया रिपोर्टों की मानें तो इन्हें न सिर्फ यातनाएं दी गईं, बल्कि एकांत कारावास में भी रखा गया, जो अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार मानकों का घोर उल्लंघन है। उन्हें मृत्युदंड की सजा सुनाए जाने के बाद भी कतर सरकार की ओर से स्पष्ट नहीं किया जा रहा है कि उन्हें किन आरोपों में दोषी पाया गया है? निचली अदालत द्वारा सुनाए गए मृत्युदंड के आदेश की कापी का भी कहीं अता-पता नहीं है। सिर्फ अनुमान लगाए जा रहे हैं कि कतर सरकार ने दंडित अधिकारियों पर जासूसी का आरोप लगाया है। भारत सरकार और दंडित अधिकारियों के स्वजनों को आरोपों की पूरी जानकारी दिए बिना मुकदमा चलाकर मृत्युदंड की सजा सुनाना अंतरराष्ट्रीय कानूनों एवं न्यायिक प्रक्रिया में पारदर्शिता के मानदंडों के अनुरूप नहीं है।

न्याय के मूल सिद्धांत के उल्लंघन के आधार पर भारत को इस मामले को अंतरराष्ट्रीय न्यायालय में ले जाना चाहिए। भारत को वहां कुलभूषण जाधव मामले की तरह सफलता मिलने की पूरी संभावना है। असल में यह मामला तो एक उदाहरण भर है। कतर द्वारा भारत और अंतरराष्ट्रीय सुरक्षा के लिए उत्पन्न की जा रही समस्याएं और बड़ी एवं चिंताजनक हैं। कतर के शाही परिवार की इस्लामिक कट्टरपंथ के मामले में बढ़त बनाने और सऊदी शाही परिवार जैसा रुतबा हासिल करने की भूख अब सनक की सीमा तक बढ़ चुकी है। इसके लिए कतर हर प्रकार के कट्टरपंथी और आतंकी गुटों को प्रश्रय दे रहा है। इस कारण वह पाकिस्तान की तरह ही एक दुष्ट प्रकृति वाला देश बनता जा रहा है। अपने पाले-पोसे आतंकी तत्वों का इस्तेमाल कतर दूसरे देशों पर अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए करता है। हाल में इजरायल में निरीह महिलाओं और बच्चों तक की निर्मम हत्याएं करने वाले आतंकी संगठन हमास के अधिकांश बड़े नेता कतर में ही रहते हैं। मिस्र में सक्रिय कट्टरपंथी संगठन मुस्लिम ब्रदरहुड को सत्ता तक पहुंचाने में कतर सहायता कर चुका है, जबकि सऊदी सरकार ने मुस्लिम ब्रदरहुड को आतंकी संगठन घोषित कर रखा है। अगर मिस्र की फौज और जनता के एक बड़े वर्ग ने मुस्लिम ब्रदरहुड को सत्ता से अपदस्थ न किया होता तो आज मिस्र जैसे बड़े मुस्लिम देश की दुर्गति भी अफगानिस्तान जैसी हो गई होती। कतर आतंकवाद को लेकर दोहरी चाल चलने में भी पाकिस्तान की ही तरह है। एक ओर अमेरिका का पश्चिम एशिया में सबसे बड़ा सैन्य अड्डा कतर में है तो दूसरी ओर कतर की खुफिया एजेंसियां ही सीरिया और इराक में सक्रिय उन आतंकी संगठनों को पैसा एवं हथियार मुहैया कराती आई हैं, जो अमेरिकी सैनिकों को निशाना बनाते रहे हैं।

एक अमेरिकी थिंक टैंक 'फाउंडेशन फार डिफेंस आफ डेमोक्रेसीज' की 2017 में आई एक रिपोर्ट के अनुसार आतंकी संगठनों को पैसा मुहैया कराने वाले विश्व के 20 सबसे बड़े फाइनेंसरों के तार कतर से जुड़े हैं। इनमें अलकायदा को करोड़ों डालर मुहैया कराने वाला कतर का नागरिक अब्दुल रहमान अल-नुआमी प्रमुख है, जिसे कतर के सुल्तान अपना 'अजीज दोस्त' बताते हैं। संयुक्त राष्ट्र द्वारा आतंकी मामलों में सूचीबद्ध किए जाने के बावजूद कतर सरकार अल-

नुआमी को कतर इस्लामिक बैंक में उच्च पद पर नियुक्त कर चुकी है। विश्व में कहीं भी जिहादी गतिविधि सामने आए तो उसकी पाकिस्तान की ही तरह कतर से भी कोई न कोई कड़ी जुड़ी मिलती है। 9/11 हमलों के मास्टरमाइंड खालिद शेख मोहम्मद तक को कतर के जरिये पैसा मिला था। कतर के राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार स्पष्ट कह चुके हैं कि कतर और तालिबान की विचारधारा मिलती-जुलती है। कतर की खुफिया एजेंसियों पर सीरिया में इस्लामिक स्टेट के आतंकियों को कंधे से चलाई जा सकने और जमीन से हवा में मार करने वाली मिसाइलें मुहैया कराने के आरोप लग चुके हैं। इन्हीं कारणों के चलते 2017 में सऊदी अरब, संयुक्त अरब अमीरात और बहरीन ने कतर से संबंध तोड़ दिए थे, जबकि कतर भी इन देशों की तरह एक सुन्नी देश है। इन देशों का कहना था कि कतर सरकार अपने पड़ोसियों को परेशान करने के लिए तरह-तरह के आतंकी संगठनों और ईरान की कट्टरपंथी शिया सरकार की सहायता करती है। 2021 में बाइडन प्रशासन ने इन देशों पर दबाव डालकर कतर का बायकाट खत्म करा दिया था।

इजरायल पर हमास के आतंकी हमले के बाद कतर की आतंकी कड़ियां फिर से सुर्खियों में हैं। इसे विडंबना कहें या आतंकवाद को लेकर अमेरिका का दोहरा रवैया कि जिस कतर में अमेरिका का सबसे बड़ा पश्चिम एशियाई सैन्य अड्डा है और जिसे नाटो के विशेष सहयोगी देश का दर्जा भी मिला हुआ है, उसी की राजधानी में बैठकर हमास के आतंकियों ने यहूदियों के नरसंहार की योजना बनाई। याद दिला दें कि हिंदू देवियों के अश्लील चित्र बनाने वाले एमएफ हुसैन को न सिर्फ कतर में शरण दी गई थी, बल्कि एक बंगला भी उपहार में दिया गया था। हुसैन पर इतनी मेहरबानी करने वाले कतर ने ही नुपुर शर्मा मामले को लेकर भारत में सांप्रदायिक उन्माद फैलाने में भी अहम भूमिका निभाई थी। अब तो भारत में सक्रिय आतंकियों के तार भी कतर से जुड़ने लगे हैं। जनवरी में दिल्ली में एक व्यक्ति की सिर कलम करके हत्या करने वाले इस्लामिक और खालिस्तानी आतंकियों के एक गुट को पैसा कतर के जरिये ही मिला था। ऐसे में भारत को कतर के प्रति बहुत सतर्क रहने की आवश्यकता है, क्योंकि यह छोटा सा देश आतंकी संगठनों की बड़ी शरणस्थली बनता जा रहा है। अपने सैन्य अड्डे के लिए कतर पर अमेरिका की निर्भरता उसे वैसी ही स्थिति में ला खड़ा करती है, जैसी कभी पाकिस्तान को लेकर थी। ऐसे में जरूरी है कि भारत पश्चिम एशिया में कतर की आतंकवाद के समर्थन की नीति से पीड़ित विभिन्न देशों के साथ कूटनीतिक और खुफिया सहयोग बढ़ाते हुए इस चुनौती से निपटने की कारगर योजना बनाए।

Date:04-11-23

काम के घंटो का महत्वपूर्ण सवाल

अभिषेक कुमार सिंह, (लेखक एफआइएस ग्लोबल से संबद्ध हैं)

ऐसा लगता है कि वैश्विक अर्थव्यवस्थाओं के साथ तालमेल बैठाने और दुनिया की ताकतवर कंपनियों से आगे निकलने का दबाव अब भारतीय कंपनियों पर काफी बढ़ गया है। अन्यथा इन्फोसिस के सह-संस्थापक एनआर नारायण मूर्ति को कामकाज की भारतीय संस्कृति को लेकर वह बयान नहीं देना पड़ता, जिसमें उन्होंने युवाओं का आह्वान करते हुए कहा कि यदि भारत को एक आर्थिक महाशक्ति बनाना है तो उन्हें हर हफ्ते 70 घंटे काम करना चाहिए। नौकरियों पर बढ़ते दबाव और छंटनी की खबरों के बीच श्रमिक-हितैषी संगठनों और मजदूर नेताओं को नारायण मूर्ति का बयान खटक रहा है। ऐसे लोगों की कमी नहीं, जो राष्ट्र निर्माण के लिए जुनून की हद तक जुटने के पक्ष में हैं। यह पूरा विमर्श तब और ज्यादा प्रासंगिक हो जाता है, जब पता चलता है कि चीन और अन्य देशों में ऐसी ही कार्यसंस्कृति की मांग उठ रही है, ताकि उद्योग एवं रोजगार क्षेत्र के संकटों को दूर किया जा सके।

नारायण मूर्ति के प्रति सप्ताह 70 घंटे काम वाले बयान पर जिंदल स्टील के सज्जन जिंदल ने कहा कि उनका यह बयान समर्पण के बारे में है। हमारे प्रधानमंत्री हर दिन 14-16 घंटे काम करते हैं। देश के युवाओं को उनसे प्रेरणा लेकर राष्ट्र निर्माण में इसी तरह जुटना चाहिए। यदि भारत को आर्थिक महाशक्ति बनाना है, तो हम पश्चिमी देशों की कार्यसंस्कृति को ही मानक नहीं बना सकते, जहां हफ्ते में चार या पांच दिन काम होता है। नारायण मूर्ति के बयान का एक आधार यह भी है कि भारत की उत्पादकता दुनिया में कई देशों से कम है। जब तक हम अपनी उत्पादकता में सुधार नहीं करते, हम उन देशों के साथ प्रतिस्पर्धा नहीं कर पाएंगे, जिन्होंने हमसे अधिक प्रगति की है। जापान के बारे में दावा किया जाता है कि वहां कर्मचारी न केवल ज्यादा काम करते हैं, बल्कि वे सालाना नौ दिन की छुट्टियां भी नहीं लेते, जबकि उन्हें इसकी दोगुने से ज्यादा छुट्टियां मिलती हैं। चीन की ई-कामर्स कंपनी अलीबाबा के संस्थापक जैक मा तो यहां तक कह चुके हैं कि कर्मचारियों को हर दिन सुबह नौ से रात नौ बजे तक काम करने की जरूरत है और पांच कार्य दिवसों वाली परंपरा फिजूल है।

भारत, चीन और पश्चिमी देशों के कामकाजी माहौल पर नजर डालें तो कई अंतर दिखते हैं। पश्चिमी देशों में किसी भी नौकरी या व्यवसाय के तहत काम के घंटों का समायोजन इस प्रकार किया जाता है, जिससे कर्मचारी की निजी और सामाजिक जीवनशैली नकारात्मक रूप से प्रभावित न हो। इसे ही वर्क-लाइफ बैलेंस की संज्ञा दी जाती है। कई यूरोपीय देशों में सरकारें और निजी कंपनियां इसका हिसाब-किताब भी रखती हैं कि कहीं कर्मचारी ने साल में जरूरत से कम छुट्टियां तो नहीं लीं या फिर कर्मचारी दफ्तर में आवश्यकता से अधिक समय तो नहीं रुक रहा?

कोरोना काल में जब कामकाज का हाइब्रिड माडल (कभी दफ्तर तो कभी घर से काम करना) अपनाया गया तो कर्मचारियों को इसकी सुविधा भी दी गई कि वे एक तय समय के बाद कार्यालय से आए ईमेल या फोन काल का जवाब न दें। इसका आश्चर्यजनक पहलू यह था कि जब इन्हीं बहुराष्ट्रीय कंपनियों के सामने भारत स्थित अपने कार्यालयों में पश्चिमी देशों वाला कामकाजी माडल अपनाने का मामला आया तो वे इससे कन्नी काट गईं। इसकी एक वजह यह हो सकती है कि भारत में श्रम कानूनों के तहत कर्मचारियों को ज्यादा अधिकार नहीं मिले। एक अन्य कारण कार्यसंस्कृति को लेकर कर्मचारियों का रवैया भी हो सकता है।

भारतीय कर्मचारियों को लेकर यह आम धारणा है कि वे अपने काम के प्रति अपेक्षित समर्पण नहीं दिखाते। देश के ज्यादातर सरकारी कार्यालयों में कर्मचारी या तो समय पर नहीं आते या फिर अपनी कुर्सी से गायब रहते हैं। यह अकारण नहीं कि अब ज्यादातर सरकारी कार्यालयों में उपस्थिति दर्ज करने की बायोमीट्रिक प्रणाली और कामकाज के आकलन के लिए उनके सालाना अप्रेजल वाली व्यवस्थाओं को लागू किया जा रहा है।

बौद्ध आध्यात्मिक नेता दलाई लामा ने कुछ वर्ष पूर्व इंडियन चैंबर आफ कामर्स के एक कार्यक्रम में कहा था कि भारत के लोग चीनियों की तुलना में आलसी हैं। इसके लिए उन्होंने भौगोलिक कारणों को जिम्मेदार ठहराया था और भारत को सबसे ज्यादा स्थिर देश बताते हुए धार्मिक सहनशीलता पर उसकी प्रशंसा की थी। शायद भारतीयों के बारे में इसी तरह की धारणा का नतीजा है कि जो बहुराष्ट्रीय कंपनियां पश्चिम में अपने कर्मचारियों को जबरन छुट्टी पर भेजने तक के उपाय करती हैं, वे भारत में ऐसा करने में कंजूसी बरतती हैं। एक आकलन कहता है कि 50 साल पहले भारतीय कर्मचारियों को एक हफ्ते में औसतन 39 घंटे काम करना होता था, लेकिन अब वह औसत बढ़कर 45 घंटे हो चुका है। दिल्ली-मुंबई जैसे महानगरों में तो यह औसत 60 घंटे तक पहुंच चुका है, जबकि ब्रिटेन, अमेरिका आदि देशों में कर्मचारियों से प्रति सप्ताह सिर्फ 34 घंटे काम करने की ही अपेक्षा की जाती है। प्रश्न यह है कि क्या हमें नारायण मूर्ति के बयान को इसलिए खारिज कर देना चाहिए, क्योंकि भारतीय तो पहले से ही पश्चिमी देशों के कर्मचारियों के मुकाबले ज्यादा काम कर रहे हैं? इसका सार्थक उत्तर यही होगा कि हमें उनके बयान को एक सकारात्मक नजरिये से देखना होगा और यह समझना होगा कि ज्यादा काम करके हम उन धारणाओं को बदलने में कामयाब होंगे, जिन्होंने भारतीयों को आलसी और कामचोर आदि श्रेणियों में घेर रखा है। अपने परिश्रम के बल पर देश को एक नई आर्थिक शक्ति बनाने पर ही हम छुट्टी से लेकर वेतन तक में पश्चिमी देशों की बराबरी के लिए आवाज उठाने और उनके जैसे अधिकार पाने के योग्य हो सकेंगे।

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date:04-11-23

महानगरों की निर्माण योजना

टी.एन.नाइनन

दशकों तक राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र (दिल्ली और आसपास के गुड़गांव तथा नोएडा जैसे शहर) देश की निर्माण राजधानी भी रहा है। बीते 15 वर्षों में दुनिया के सबसे बड़े हवाई अड्डों में से एक का चरणबद्ध विकास हुआ है और मेट्रो नेटवर्क का भी। आसपास के उपनगरों में आवासीय और कार्यालयों वाले टावर बनाए गए और उन्हें जोड़ने वाले एक्सप्रेसवे तथा मेट्रो लिंक तैयार किए गए। इस बीच नियमों में परिवर्तन करके एक मंजिला आवासों को बहुमंजिला आवासीय अपार्टमेंट में बदला गया। इससे आबादी का घनत्व बढ़ा और नए

फ्लाईओवर तथा शहरों के ऊपर से गुजरने वाले क्रॉस सिटी फ्रीवे आबादी और यातायात के बढ़ते दबाव से निपटने में नाकाम रहे। इस बीच शहर का दम खराब हवा में घुटता गया।

अब मुंबई की बारी है। देश की वित्तीय राजधानी ने अधोसंरचना विकास और अचल संपत्ति निर्माण में समांतर तेजी के साथ दिल्ली को पीछे छोड़ दिया। पूरे शहर में निर्माण कार्य में इस्तेमाल होने वाले भारी-भरकम उपकरण देखे जा सकते हैं। ये उपकरण मिट्टी के ढेरों को इधर-उधर करते हैं, मेट्रो लाइन और ओवरहेड सड़कों को सहारा देने वाले निर्माण नजर आते हैं और सुरंगों की खुदाई देखी जा सकती है जो जमीन के नीचे शहर को अलग-अलग दिशाओं में काटती हैं। इसकी कीमत वायु प्रदूषण के रूप में चुकानी पड़ रही है और प्रदूषण की स्थिति यह है कि कुछ दिन तो दिल्ली से भी बुरे हालात रहते हैं।

वादा तो यही है कि ये बातें पारंपरिक तौर पर बुनियादी परिवहन ढांचे के अभाव से जूझ रहे शहर को बदल देंगी। उपनगरीय इलाकों में अब तीन मेट्रो लाइन शुरू हो चुकी हैं और विस्तारित लाइन निर्माणाधीन हैं। एक विशाल तटवर्ती सड़क परियोजना भी है जहां अलग से बस लेन होगी। यह मौजूदा ट्रैफिक कॉरिडोर को बाई पास करेगा और मौजूदा शॉर्ट सी-लिंक के चार गुना यातायात को संभालेगा। इसके अलावा 22 किलोमीटर लंबा ट्रांस हार्बर लिंक बनाया जा रहा है जो मिड-टाउन मुंबई को मुख्यभूमि से जोड़ेगा। यह लगभग पूरा होने वाला है। एक नया हवाई अड्डा निर्माणाधीन है, शहर के पूर्वी और पश्चिमी हिस्सों को जोड़ने वाली ओवरहेड कनेक्टिंग रोड बनाई जा रही हैं और शहर तथा समुद्र के नीचे कई किलोमीटर की सुरंग तैयार की जा रही हैं। इनमें से अधिकांश परियोजनाओं को अगले दो सालों में पूरा करना है इसलिए निर्माण कार्य पूरी गति पर है। एकमात्र चीज जिसका विस्तार नहीं किया जा रहा है वह है उपनगरीय रेल सेवा जो शहर की जीवन रेखा भी है।

निर्माण का आकार पहले की परियोजनाओं को काफी छोटा कर देता है। उदाहरण के लिए वर्ली-बांद्रा सी लिंक, बांद्रा-कुर्ला फाइनैंशियल डिस्ट्रिक्ट और मूल बैकबे रिक्लेमेशन जिसके माध्यम से नरीमन पॉइंट बिजनेस डिस्ट्रिक्ट बना। परिवहन परियोजनाओं से अलग अचल संपत्ति निर्माण (अनुमान के मुताबिक 15 करोड़ वर्ग फुट) के बारे में अनुमान है कि इनका आकार नरीमन पॉइंट से पांच गुना है। तटवर्ती सड़क परियोजना में समुद्र से पहले की तुलना में अधिक भूमि ली जानी है।

परिवहन परियोजना नया उत्तर-दक्षिण कॉरिडोर और सड़क तथा रेल के माध्यम से नया पूर्व-पश्चिम संपर्क मुहैया कराएगी तथा द्वीपीय शहर को मुख्य भूमि से जोड़ेगी। वहां से एक नए हवाई अड्डे और न्हावा-शेवा बंदरगाह तक संपर्क कायम होगा। दो ही वर्षों में शहर में आवागमन आसान हो जाएगा। परंतु बेंगलूरु और दिल्ली का अनुभव बताता है और जैसा कि मुंबई में टेक्सटाइल मिलों की जमीन के पुनर्विकास का अनुभव है, नया परिवहन ढांचा भी बढ़ती जरूरतों के साथ शायद ही तालमेल बिठा पाए।

ऐसा इसलिए कि परिवहन संपर्क में सुधार होने और शहर तथा मुख्य भूमि के बीच बेहतर संपर्क से यातायात बढ़ता है। हम देख चुके हैं कि गुड़गांव और नोएडा तथा दिल्ली के बीच कैसा विशाल शहरी ढांचा विकसित हुआ। मुंबई की बात करें तो मुख्यभूमि से बेहतर संपर्क जमीन की कमी दूर करेगा जिसने इसके विकास को बाधित किया है।

इसके साथ ही आवासीय और कार्यालयीन निर्माण को मंजूरियों में अचानक तेजी आने से पहले से ही भीड़भाड़ वाले शहर में आबादी का दबाव और बढ़ेगा। इस बीच धारावी का भी पुनर्विकास होगा। पानी की आपूर्ति और गंदगी का निस्तारण और बड़े मुद्दे बन जाएंगे।

संभव है यह केवल शुरुआत हो। दिल्ली से 65 किलोमीटर दूर मेरठ जाने के लिए हाईस्पीड रेल लाइन हाल ही में शुरू हुई है। अलवर आदि अन्य शहरों के लिए ऐसी अन्य लाइन बिछाने की योजना है। मुंबई, ठाणे और नवी मुंबई के बीच यात्री पहले ही आवागमन करते हैं। कल्पना कीजिए कि और तेज परिवहन के साथ इस दूरी में भी विस्तार होगा। समय के साथ हम दक्षिणी चीन के ग्रेटर बे एरिया का भारतीय समकक्ष भी देख सकते हैं जिसमें शेनझेन और ग्वांगझाऊ जैसे शहर तथा हॉन्गकॉन्ग भी शामिल है। यहां सात करोड़ लोग रहते हैं और यह चीन के जीडीपी के 12 फीसदी के बराबर है। क्या अब वक्त आ गया है कि भारतीय शहरों के मामले में हम अब तक प्राप्त नतीजों की तुलना में बेहतर योजनाओं का निर्माण करें।

Date:04-11-23

अनुसंधान क्षेत्र में निवेश की संरचनात्मक जटिलताएं

अजय छिब्बर, (लेखक जॉर्ज वॉशिंगटन यूनिवर्सिटी के इंस्टीट्यूट फॉर इंटरनैशनल इकनॉमिक पॉलिसी के प्रतिष्ठित विजिटिंग स्कॉलर हैं)

भारत ने अपेक्षाकृत कम बजट में चंद्रमा पर पहुंचने के अभियान में सफलता पाई और यह ऐसा करने वाला दुनिया का चौथा देश बन गया है। भारत की चांद पर उतरने की महत्वाकांक्षी योजना की सफलता की उपलब्धि महत्वपूर्ण है, खासतौर पर इस लिहाज से भी कि इसकी अधिकांश अंतरिक्ष योजनाएं स्वदेश में ही विकसित की गई हैं। इसका एक प्रमुख कारण यह है कि भारत में अनुसंधान एवं विकास (आरऐंडडी) पर किए जाने वाले सीमित खर्च में भी अंतरिक्ष से जुड़ी पहलों को प्राथमिकता दी गई है। हम अगर अपने अंतरिक्ष कार्यक्रमों की सराहना करते हैं तो यह लाजिमी है कि हम आरऐंडडी के क्षेत्र में व्यापक तौर पर कम खर्च की समस्या पर भी गौर करें।

भारत का आरऐंडडी खर्च वर्ष 2008 में सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) के लगभग 0.8 प्रतिशत पर पहुंच गया था लेकिन यह उस वक्त के बाद से घटकर जीडीपी के 0.65 प्रतिशत के स्तर पर पहुंच गया है। इसकी तुलना में चीन अपने जीडीपी का लगभग 2.1 प्रतिशत आरऐंडडी पर खर्च करता है और अमेरिका लगभग 2.8 प्रतिशत खर्च करता है। दूसरी ओर जर्मनी और जापान आरऐंडडी पर जीपीडी का 3 प्रतिशत से अधिक खर्च करते हैं जबकि इजरायल शोध पर सबसे ज्यादा अपने जीडीपी का 5 प्रतिशत तक खर्च करता है। आरऐंडडी में खर्च किए जाने वाले वैश्विक औसत को देखा जाए तो यह जीडीपी का लगभग 2.2 प्रतिशत है।

हालांकि यह सच है कि एक विकासशील देश, अनुसंधान एवं विकास पर कम खर्च करता है क्योंकि इसके पास यह गुंजाइश होती है कि यह अमीर देशों से नई प्रौद्योगिकी ले सके। हालांकि ऐसा करने के लिए भी कुछ स्तर तक आरऐंडडी

की आवश्यकता होती है। जब भारत में हरित क्रांति हुई तब दूसरी जगह तैयार हुए अधिक उपज वाले बीज की किस्में लाने में देश सक्षम हुआ क्योंकि भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल इन्हें ढालने का अपना आरऐंडडी बुनियादी ढांचा था।

भारत फार्मा के क्षेत्र में भी सफल रहा क्योंकि इसके पास रिवर्स इंजीनियर फार्मास्यूटिकल्स और जेनेरिक दवाओं का उत्पादन करने के लिए पर्याप्त शोध क्षमताएं थीं।

भारत के आरऐंडडी का एक बड़ा हिस्सा स्वास्थ्य (18 प्रतिशत), कृषि (13 प्रतिशत), अंतरिक्ष (9 प्रतिशत) और रक्षा क्षेत्र (17 प्रतिशत) में खर्च होता है जबकि 10 प्रतिशत से भी कम औद्योगिक उत्पादन, प्रौद्योगिकी से लेकर परिवहन एवं दूरसंचार क्षेत्र में खर्च होता है।

निश्चित तौर पर यह हैरान करने वाली बात नहीं लगती है जब आप इस बात पर विचार करते हैं कि आरऐंडडी का बड़ा हिस्सा (लगभग 60 प्रतिशत) सार्वजनिक क्षेत्र में खर्च होता है जबकि दूसरी ओर अधिकांश विकसित अर्थव्यवस्थाओं में अनुसंधान एवं विकास पर किए जाने वाले खर्च में सार्वजनिक क्षेत्र की हिस्सेदारी 10 प्रतिशत से भी कम है। भारत के सार्वजनिक क्षेत्र का आरऐंडडी खर्च जीडीपी का 0.36 प्रतिशत है जो इसी तुलना में रूस के 0.34 प्रतिशत, अमेरिका के 0.28 प्रतिशत, फ्रांस के 0.27 प्रतिशत, जापान के 0.25 प्रतिशत और इजरायल के 0.07 प्रतिशत से अधिक है। भारत में आरऐंडडी क्षेत्र के खर्च में कमी सार्वजनिक क्षेत्र नहीं बल्कि निजी क्षेत्र के कम योगदान के चलते बनी हुई है जबकि इस क्षेत्र में आरऐंडडी का बजट बहुत अधिक होना चाहिए।

अब सवाल यह भी है कि भारत के निजी क्षेत्र से शोध एवं विकास पर इतना कम खर्च क्यों होता है? हम जानते हैं कि निजी क्षेत्र का आरऐंडडी के जरिये मिलने वाला प्रतिफल किसी सामाजिक प्रतिफल से कम है क्योंकि ज्ञान की सुरक्षा करना इतना आसान नहीं है। इसकी चोरी आसानी से हो सकती है या यह पूरी तरह से गायब भी हो सकता है खासतौर पर अगर यह ज्ञान शोध करने वाले व्यक्ति के पास है।

चीन कथित तौर पर प्रौद्योगिकी की चोरी करने में माहिर रहा है लेकिन अमेरिका सहित कई अन्य देशों के पास 150 साल पहले ही ऐसी पाइरेटेड तकनीक थी। स्टैनफर्ड यूनिवर्सिटी के निकोलस ब्लूम ने उन कारकों पर गौर किया है जिससे यह पता चलता है कि निजी कंपनियां आरऐंडडी में कम निवेश क्यों करती हैं और इसकी वजह यह है कि वे इसके सभी फायदे नहीं हासिल कर सकती हैं। उनका तर्क है कि अनुसंधान एवं विकास की लागत में 10 प्रतिशत तक की कमी लाने से इसका खर्च 10 प्रतिशत तक बढ़ जाता है। ऐसा विभिन्न प्रकार के कर लगाकर और अन्य प्रोत्साहनों के माध्यम किया जा सकता है लेकिन इसकी संरचना कैसे तैयार हो, इस बात से फर्क पड़ता है। उनका यह भी तर्क है कि मुक्त व्यापार, प्रतिस्पर्धा बढ़ाकर नवाचार को बढ़ावा देता है।

हालांकि भारत इसके विपरीत दिशा की ओर जा रहा है। भारत में कई वर्षों से आरऐंडडी के लिए कॉरपोरेट कर प्रोत्साहन दिया जाता था लेकिन वर्ष 2018 में कॉरपोरेट कर घटाने के साथ ही इन्हें खत्म कर दिया गया। इसके लिए एक तर्क यह दिया गया कि पिछले कर प्रोत्साहनों से आरऐंडडी में कोई उल्लेखनीय वृद्धि नहीं हुई। हालांकि यह भी संभव है कि इनकी संरचना ठीक नहीं होगी जिसकी वजह से ऐसा नहीं हो पाया होगा।

हमारी व्यापार नीति जो मुक्त व्यापार की ओर बढ़ रही थी, उसमें वर्ष 2018 में बदलाव आया और अब यह भारत को कम प्रतिस्पर्धी बना रही है जो नवाचार को बढ़ाने के बजाय कम करेगी। पेटेंट संरक्षण, अनुबंधों को लागू करना और कानूनी नियमों जैसे मुख्य कारक ही आरऐंडडी में निजी निवेश का उच्च स्तर सुनिश्चित कर पाएंगे।

डॉ ब्लूम ने यह भी बताया कि कुशल और प्रतिभाशाली लोगों के पलायन को रोकना भी इस दिशा में एक अहम कदम है। भारत के मामले में इसका मतलब कुशल लोगों के पलायन को रोकना होगा क्योंकि हम देश में बेहतर वेतन एवं सुविधाओं वाली नौकरियों के अभाव में विज्ञान और इंजीनियरिंग क्षेत्र के अधिकांश प्रतिभाशाली छात्रों के पलायन को रोक नहीं पाते हैं। उनका तर्क है कि एसटीईएम (विज्ञान, प्रौद्योगिकी, इंजीनियरिंग और गणित) पर अधिक खर्च करने से फर्क पड़ेगा और चुनिंदा सरकारी संस्थानों पर खर्च करने के बजाय विश्वविद्यालयों को आरऐंडडी अनुदान देना सार्थक कदम साबित होगा। भारत में चुनिंदा संस्थानों को ही सरकारी खर्च के बजट का बड़ा हिस्सा मिलता है और इसमें से बेहद कम राशि विश्वविद्यालयों को मिलती है। इनमें रक्षा अनुसंधान एवं विकास संगठन (32 प्रतिशत), अंतरिक्ष विभाग (19 प्रतिशत), भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद (11 प्रतिशत), परमाणु ऊर्जा विभाग (11 प्रतिशत), वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद (10 प्रतिशत) और विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी तथा जैव प्रौद्योगिकी विभाग (10 प्रतिशत) शामिल हैं।

सवाल यह भी उठता है कि यह कैसे सुनिश्चित किया जाए कि ये संस्थान शोध के लिए आईआईटी और इंजीनियरिंग स्कूलों जैसे विश्वविद्यालय स्तर की अधिक क्षमता का उपयोग करें और यही वह रास्ता होना चाहिए जिसका अनुसरण दूसरे देशों ने भी किया है और भारत को इस दिशा में प्रयास करने के साथ ही इसका अनुकरण करना चाहिए।

समय के साथ भारत के पीयर रिव्यू शोध पत्र और पेटेंट की तादाद बढ़ी है लेकिन हमें उनकी गुणवत्ता की कोई जानकारी नहीं है और हम इस लिहाज से भी अमेरिका तथा चीन से काफी पीछे हैं। जाहिर तौर पर आगे का रास्ता यही है कि निजी क्षेत्र के आरऐंडडी निवेश के लिए बेहतर प्रोत्साहन योजनाएं तैयार की जाएं। इसके साथ ही हमारे बड़े विश्वविद्यालयों और संस्थानों को शोध एवं विकास की प्रणाली की ओर अच्छी तरह आकर्षित करना होगा न कि इस बात पर जोर दिया जाए कि आरऐंडडी कुछ जगहों तक ही सीमित हो और हम इसके सीमित निष्कर्षों पर ही संतुष्ट हो जाएं।

इसके अलावा, कॉरपोरेट सामाजिक उत्तरदायित्व के लिए (डिफॉल्ट तरीके से अब पीएम केयर्स फंड बन गया है जिसमें पारदर्शिता नहीं है) निजी कंपनियों के शुद्ध मुनाफे पर 2 प्रतिशत कर लगाने के बजाय निजी क्षेत्र की ऊर्जा अगर आरऐंडडी पर अधिक लगाने पर केंद्रित की जाए तो यह अधिक मददगार साबित होगा।

एक सकारात्मक खबर यह है कि भारत वैश्विक नवाचार सूचकांक में सुधार कर रहा है और यह वर्ष 2015-16 में 81वें स्थान पर था लेकिन 2021 में इसमें सुधार दिखा और यह 46वें स्थान पर पहुंच गया है। अगर हमारे आरऐंडडी का स्तर और बेहतर होता है तो इसमें और अधिक सुधार हो सकता है।

आखिरकार डॉ. ब्लूम का तर्क यह है कि महत्त्वाकांक्षी और नवाचार वाली योजना के अपने फायदे हैं क्योंकि अधिकांश बुनियादी शोध अंततः मार्केटिंग करने योग्य कई नई तकनीक तैयार करते हैं। ऐसे में हमारे यह अहम होगा कि हम अपनी अंतरिक्ष योजनाओं के लिए पूंजी रखें लेकिन अधिक विश्वविद्यालयों के साथ-साथ निजी कंपनियों को भी इसके दायरे में लाने की कोशिश करें।

जनसत्ता

Date:04-11-23

गोपनीयता बनाम पारदर्शिता

संपादकीय

चुनावी चंदे के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने सुनवाई पूरी कर फैसला सुरक्षित रख लिया है। अदालत ने निर्वाचन आयोग को निर्देश दिया कि वह बीते सितंबर महीने तक राजनीतिक दलों को मिले कुल चंदे का ब्योरा पेश करे। हालांकि इस पर निर्वाचन आयोग का रुख कुछ टालमटोल का रहा, मगर अदालत ने इसे लेकर सख्ती दिखाई। फैसला यह ब्योरा उपलब्ध होने के बाद ही आएगा। हालांकि पूरी सुनवाई के दौरान सर्वोच्च न्यायालय की पांच जजों की पीठ ने सरकार से जिस तरह के सवाल किए और सरकार की तरफ से उनके जो जवाब आए. उससे अंदाजा लगाया जा सकता है कि चुनावी चंदे के मामले में जानबूझ कर पारदर्शिता बाधित की गई। सर्वोच्च न्यायालय ने समानता का अधिकार कानून की नजर से इस मामले पर सुनवाई की। शुरू में सरकार ने तर्क दिया कि चुनावी चंदे के बारे में मतदाता को जानने का कोई अधिकार नहीं है। मगर इस सवाल के आगे यह तर्क देर तक ठहर नहीं पाया कि मतदाता कंपनियों का शेयरधारक भी हो सकता है और उसे यह जानने का पूरा अधिकार है कि उसके निवेश का लाभांश कंपनी किस राजनीतिक दल को दे रही है। ऐसे ही अदालत के लगभग सभी सवाल सरकार को असहज करने वाले थे।

दरअसल, चुनावी चंदे से संबंधित कानून को बदल कर बांड का प्रावधान किया गया, तभी आशंका जाहिर की गई थी कि इससे राजनीतिक चंदे में अपारदर्शिता आएगी और कारपोरेट घराने इसके जरिए अपने हित साधने का प्रयास करेंगे वह बात जल्दी ही साबित भी हो गई। दरअसल, नए कानून के बाद राजनीतिक चंदे की करीब नब्बे फीसद राशि सत्ताधारी दल को मिलती रही है। इस तरह चंदे के मामले में राजनीतिक दलों के बीच असमानता देखी गई। चुनावी शुचिता के पक्षधर सदा से कहते रहे हैं कि राजनीतिक दलों पर कारपोरेट घरानों या कंपनियों से चुनावी चंदा लेने की रोक होनी चाहिए, क्योंकि इस तरह चंदा देकर कारोबारी सत्तापक्ष पर अपने लाभ के लिए फैसले कराने का दबाव बना सकते हैं। काफी समय तक ऐसे चंदे पर रोक रही। फिर नियम बना कि कंपनियां अपने सकल लाभ का पांच फीसद चुनावी चंदे के रूप में दान दे सकती हैं। इस सीमा को बाद में बढ़ा कर साढ़े सात फीसद कर दिया गया था। मगर जब बांड के रूप में चंदा लेने का कानून बना तो यह सीमा हटा दी गई और नियम बन गया कि कोई भी जितना चाहे, चंदा दे सकता है। जरूरी नहीं कि कंपनी फायदे में ही चल रही हो। यहां तक कि अगर किसी विदेशी कंपनी की शाखा भारत में है, तो वह भी चंदा दे सकती है। चंदा देने वाले की पहचान उजागर नहीं की जा सकती।

इस कानून के पीछे सरकार का तर्क था कि इससे काले धन को सफेद करने का चलन बंद होगा। मगर जिस तरह कुल चंदे का बड़ा हिस्सा केवल सत्ताधारी दलों को मिलता देखा गया है, उससे यह अंदेशा गहरा हुआ है कि कंपनियों ने सरकारों से किसी न किसी लाभ की इच्छा से ऐसा किया होगा। बहरहाल, सर्वोच्च न्यायालय ने स्पष्ट कर दिया है कि चुनावी चंदे में पारदर्शिता जरूरी है और मतदाता को यह जानने का पूरा हक होना चाहिए कि किसी पार्टी को चंदा कहां से मिल रहा है और वह उसका उपयोग किस रूप में कर रही है। लोकतंत्र का तकाजा भी यही है कि राजनीतिक दल अपारदर्शी तरीके से धन जुटाने का प्रयास न करें।